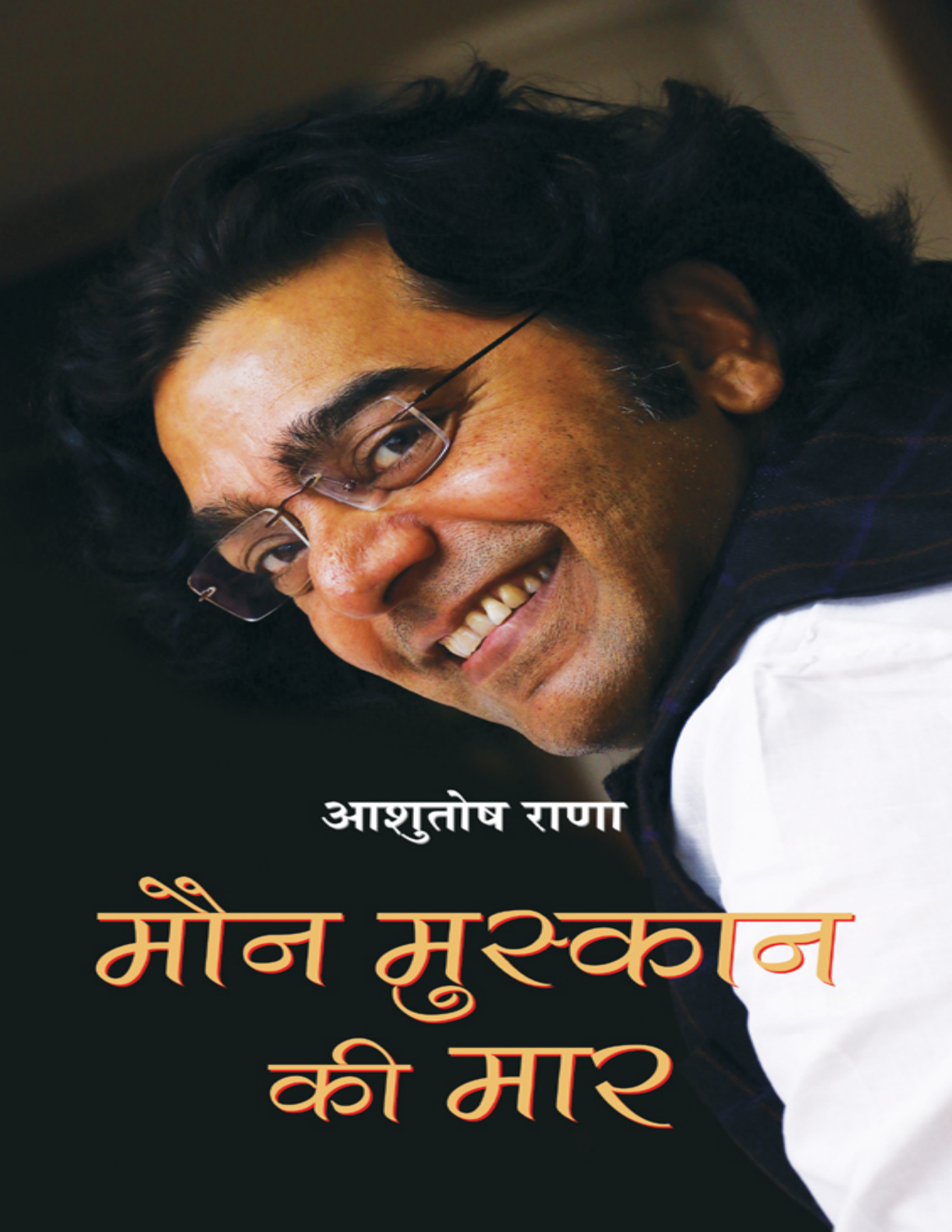

आशुतोष राणा

मौन मुस्कान की मार

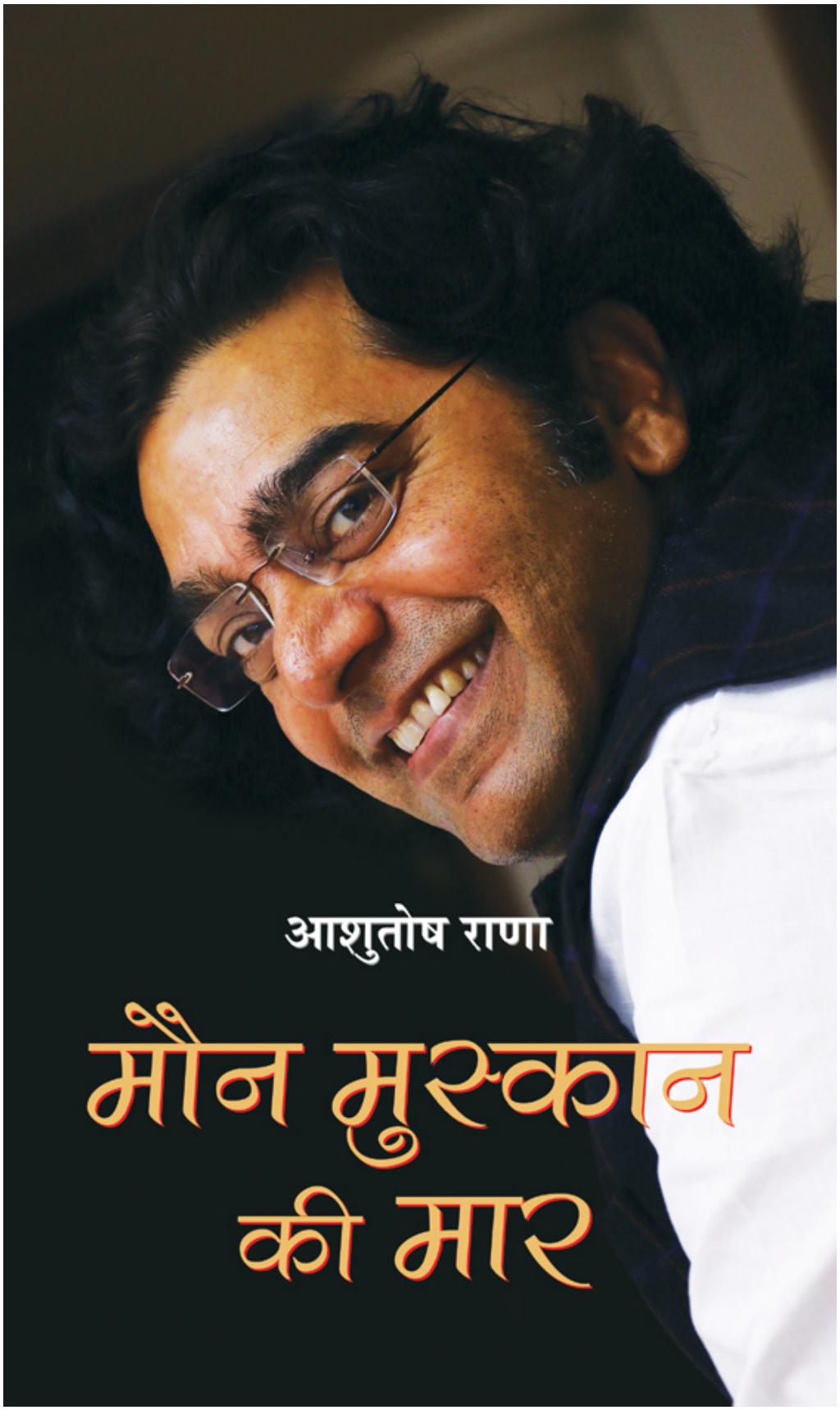
आशुतोष राणा
मौन मुस्कान
की मार

मौन मुस्कान की मार

आशुतोष राणा

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

मर्म के प्रतीक परमपूज्य

गुरुदेव **पंडित श्री देवप्रभाकर जी शास्त्री 'दद्दाजी'**

व धर्म की प्रतीक

मेरी **धर्मपत्नी श्रीमती रेणुका शहाणे जी**

को मेरा यह रचना-कर्म

समर्पित है।

ये रचनाएँ और आशुतोष राणा

श्री आशुतोष राणा का अनुभव संसार बहुत व्यापक है और वे बहुपठ तथा बहुश्रुत भी हैं, मन लगाकर पढ़ते हैं, ध्यान से सुनते हैं और तब लिखते हैं। इन व्यंग्य निबंधों में उनकी सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति और हास्य की प्रवृत्ति के साथ ही साहित्यिक विनोद भी अच्छा-खासा दिखाई देता है। इसके पहले मैंने उनकी 'सीता-परित्याग' जैसी गंभीर लेख-शृंखला आद्यंत पढ़ी। वे स्त्री-विमर्श, इस विमर्श और उस विमर्श जैसी फतवेबाजी से दूर एक गंभीर सामाजिक चेतना के वैचारिक पक्ष का अधिक उत्तरदायित्व के साथ निर्वाह करते हैं। उनकी मूल प्रवृत्ति जिज्ञासा है, यह उनके संपूर्ण लेखन, वक्तव्यों और सुहृद-गोष्ठियों से समझी जा सकती है। ये फिल्म-संसार के व्यक्ति हैं, जहाँ अदाकारों के लिए पढ़ने-लिखने का काम दूसरे लोग करते हैं। आपाधापी, खींचतान, मानसिक ऊहापोह और कशमकश के बीच ये लेखन करते हैं और दत्तचित्त होकर करते हैं। यह सचमुच आश्चर्य से अधिक आनंद की बात है।

परिवर्तन विश्व का नियम है। समाज, व्यवस्थाएँ, सामाजिक उद्देश्य, संस्कृतियाँ, मानवीय आचरण सब निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं। साहित्य का उद्देश्य सदैव एक नैतिक, मानवीय, बलवान और बुद्धिमान समाज के निर्माण का प्रयास करना है। साहित्य की सभी विधाओं—कविता, निबंध, नाटक, रेखाचित्र आदि में व्यंग्य की उपस्थिति देखी और पहचानी जा सकती है। व्यंग्य कोई विधा नहीं है, वह चेतना है, स्प्रिट है। परसाईजी ने इसे खासतौर पर स्वीकारा है। वह हर विधा में, हर माध्यम से और हर भाषा से हाजिर होता है। यह हाजिरी एक सतर्क और जागरूक पुलिसमैन की है। ज्यों-ज्यों अपराध बढ़ते हैं, कानून की अवज्ञा का दौर तेज होता है, त्यों-त्यों पुलिसमैन की ड्यूटी बढ़ती है, कार्यभार बढ़ता है, जिम्मेदारी बढ़ती है, क्षेत्राधिकार बढ़ता है और अंततः कार्यकुशलता के आधार पर उसका दर्जा बढ़ता है। इसीलिए वर्तमान समाज संदर्भों के साथ-साथ व्यंग्य का कार्यक्षेत्र बढ़ा है, जिम्मेदारी बढ़ी है और हैसियत बढ़ी है। व्यंग्य की यह बढ़ी हुई हैसियत ही हर विधा में उसकी समर्थ उपस्थिति है। परसाईजी ने 'वैष्णव की फिसलन' की भूमिका में लिखा था—'व्यंग्य की प्रतिष्ठा इस बीच साहित्य में काफी बढ़ी है। वह शूद्र से क्षत्रिय मान लिया गया है।' व्यंग्य साहित्य में ब्राह्मण बनना भी नहीं चाहता, क्योंकि वह कीर्तन करता है। मेरा मानना है कि व्यंग्य क्षत्रिय है, अतः वह लठैती करेगा। यह भी कि अब कीर्तन की नहीं लठैती की ही जरूरत है।

व्यंग्य लेखन एक तरह की लठैती ही है। आज का समाज जैसे विसंगत, विद्रूप और विकृत अनुभवों का संसार है, व्यंग्य के दर्पण में उसकी वैसी ही भयंकर, कुरूप और डरावनी छवियाँ दिखाई देती हैं, इसलिए बाबू बालमुकुंद गुप्त से लेकर आशुतोष राणा तक सक्रिय व्यंग्यकर्मियों की सामाजिक प्रतिबद्धता समाज के दलित, शोषित और पीड़ित लोगों के लिए, उनके अधिकारों और स्वायत्तता के लिए एक न्यायपूर्ण संघर्ष की अगुवाई करती है।

आशुतोष राणा के ये व्यंग्य रेखाचित्र कहे जाएँगे। इनमें उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति ने सचमुच कमाल किया है, जैसे कोई फीचर चल रहा हो। वे समय, समाज, संदर्भ और व्यक्तित्व की ऐसी सबल संरचना करते हैं कि रचना बोलने लगती है। व्यंग्य का मूल स्वर लिये ये रचनाएँ लेखक के द्वारा विधिवत् देखे गए, भोगे गए समय और समझे गए चरित्रों पर आधारित हैं। जब नैतिकता, निष्ठा, समर्पण, शिक्षा और संस्कारों के ध्वस्त और क्षरित होते मूल तत्त्वों से पूरा राष्ट्रीय परिदृश्य एक दोहरे और अविश्वसनीय चरित्र वाले समाज में बदल रहा हो, तब इस तरह का व्यंग्य लेखन एक अच्छी-भली चौकीदारी है, जिसका उद्देश्य 'जागते रहो और जगाते रहो' है। इसलिए 'दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै। सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।'

इन व्यंग्य-चरित्रों में कुछ तो अद्भुत हैं, लामचंद की लालबत्ती, भक्क नारायण महाराज, बी.सी.पी. उर्फ भग्गू पटेल, आत्माराम विज्ञानी, राम रवा-लपटा महाराज, विष्पाद गुधौलिया, चित और वित्त, यह कलियुग है प्यारे भैया, मूर्ख बनाकर जी और लाठी गली हमें उनके कार्यक्षेत्र मुंबई से उनके गृहनगर गाडरवारा तक घुमा देते हैं। आज मानवीय चरित्रों का विकट अध्ययन करने की आवश्यकता है। ये रचनाएँ हमें इसकी प्रेरणा देती हैं।

सच है, मनुष्य ही संत है, संन्यासी है, भला है, बुरा है। है और नहीं है। वही ठग, डाकू, चोर और लुटेरा है। वही हत्यारा है और वही रक्षा करनेवाला है। वही धनी है, गरीब है, महात्मा भी है और नीच भी है। क्या उत्कट विरोधाभास है। मनुष्य देह जैसे सीढ़ी है चाहो तो उद्धार-उत्थान-परोपकार के देवत्व तक चढ़ जाओ। चाहो तो अपकार, पतन, अवनति और अवगुणों के गर्त तक उतर जाओ। पीर है, फकीर है, वही बादशाह और वही

मुफलिस-ओ-गदा है। रचनाकार यह सब तटस्थ दृष्टि से देखता है और उनके चरित्रों को पुनरचना करता है। आशुतोष राणा इसमें सिद्धहस्त होंगे, यह मेरी कामना है। सरस्वती उन पर कृपालु हों और वे सदा सारस्वत रहें। मानवीय चरित्रों को इसी सतर्कता से अंकित करते रहें। किसी ने लिखा है—

हर आदमी में होते हैं दस बीस आदमी।
जिसको भी देखना हो कई बार देखना।।

—डॉ. सुरेश आचार्य

पूर्व अध्यक्ष-हिंदी प्रकोष्ठ
प्रधान संपादक-मध्य भारती (शोध पत्रिका)
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

अपनी बात

बात उस समय की है, जब न मैं ठीक से बड़ा हुआ था और न ही मेरी गिनती छोटों में आती थी। मैं अपने एक मित्र के साथ अपने कस्बे गाडरवारा में 'टेढ़ मुहल्ला के घाट' से उतर रहा था।

गोधूलि वेला का समय था, हम दोनों मित्र अपने कंधों पर बस्ता लटकाए पैदल ही स्कूल से घर की ओर बढ़ रहे थे, ढलान होने के कारण हमारी रफ्तार अपेक्षाकृत अधिक थी कि तभी मेरी दाईं तरफ पैदल चलते हुए मेरे मित्र, जो मुझे स्कूल में पढ़ाई गई 'चारु चंद्र की चंचल किरणें' कविता का अर्थ समझा रहे थे, अचानक पीछे से आती हुई एक साइकिल के अगले पहिए में फँसे हुए बहुत तेजी के साथ मुझसे दूर जाते हुए दिखाई दिए। मैं कुछ समझ पाता इससे पहले ही मेरे मित्र, वह साइकिल और साइकिल सवार तीनों ही सड़क के किनारे ढलान पर लगे आम के पेड़ से जा भिड़े।

यह असोचित और अवांछनीय घटना पलक झपकते ही घटित हो गई थी, मैं बदहवास सा दौड़कर उनके करीब पहुँचा तो देखा कि मेरे मित्र श्री मैथिलीशरण गुप्तजी की कविता को भूलकर उस साइकिल सवार की कॉलर से झूमे हुए स्कूल से बाहर सीखे गए 'अशिष्ट अनुप्रास' अलंकारों का चीखते हुए प्रयोग कर रहे थे।

वे दोनों धूल में गुत्थमगुत्था थे, मैं उनको अलग करके सुलझाने की कोशिश करने लगा, किंतु उन उलझे हुओं को सुलझाना उतना ही मुश्किल था, जितना गीले उलझे हुए लंबे बालों को सुलझाना। मेरे मित्र गुस्से से लाल और धूल से पीले पड़े हुए तार सप्तम में ब्रेथलेस की पैटर्न पर चीख रहे थे—'कनवा (काणा) सारे अंधरा (अंधा) कहीं का जब सायकल चलात नई बने तो चला काय खों रए हो? एक आँख पहलउँ से फूटी है, कनवा कहीं का अपशगुनी, सारे हम दूसरी भी फोड्ड डाल हैं।'

दूसरी तरफ साइकिल सवार भी अपने शरीर की चोट को भूल, स्वयं को कनवा (काना) कहे जाने से बुरी तरह आहत होकर प्रतिआक्रमण कर रहे थे, 'सारे तुमाय बाप की आँखें नहीं हैं, हमरी आँख है हम एक आँख से देखें चाय दोई से तुमाय बाप को का जा रओ।'

मैंने बड़ी मुश्किल से उन दोनों को अलग किया और मित्र को समझाते हुए उनके घर की तरफ बढ़ा।

मित्र के घर की देहरी पर ही उनके पिताजी के दर्शन हो गए, हमारे मित्र के पिताजी को पूरा कस्बा 'फुर्तीले फूफा' कहता था, वे खड़े भी रहते तो ऐसा लगता जैसे उनका अंग-अंग फड़क रहा है, उनका कौन सा अंग बहुत फुरती से कब एक्टिव होगा, इसका अंदाजा लगाना बहुत मुश्किल था। जब लोगों को लगता कि उनका दायाँ हाथ एक्टिव होगा, तब वे अप्रत्याशित रूप से बाएँ हाथ से आक्रमण कर देते, जब लगता कि वे अपने हाथ से मारनेवाले हैं, तब अचानक वे अपनी लात से झापड़ रसीद कर देते। उनके बारे में यह मान्यता थी कि फुर्तीले फूफा का शरीर हड्डियों से नहीं रबर से बना हुआ है। फुर्तीले फूफा में एक और समस्या थी, उनके एक कान का पर्दा फट चुका था, इससे वे चाय को काय सुन लेते, लोटा को बेटा, मोटा को सोंटा, कुम्हार को लुहार, धोबी को गोभी··· इसलिए उनसे बात करते समय बहुत सतर्क रहना पड़ता था, क्योंकि वे सुनते ही रीएक्ट करने के आदी थे और बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाते थे।

फुर्तीले फूफा ने अपने पुत्र को फटे-चिथे कपड़ों में और 'धूरि भरे अति शोभित श्याम जू, कैसी बनी सिर सुंदर चोटी' की अवस्था में देख उन्होंने सबसे पहले मेरे मित्र को एक झन्नाटेदार चाँटा रसीद किया, फिर पूछा, कहाँ कीचड़ में लोट के आ रए? जितना पढ़ाओ-लिखाओ लेकिन तुम रहोगे जानवर-के-जानवर। फिर मेरी तरफ देखकर पूछा—कहाँ कि नल्ली (नाली) से इस भिखमँगे को उठाके लाए हो?

फुर्तीले फूफा देख मेरी तरफ रहे थे, किंतु एक सिद्धहस्थ कबड्डी खिलाड़ी के जैसे अपने पुत्र की ओर देखे बिना ही उसे धुनक भी रहे थे।

भारतीय पिताओं की सत्य उगलवाने की कला का पूरे विश्व में तोड़ नहीं है, वे थप्पड़ों से शुरुआत करते हैं, जिससे पुत्र बाहर के साथ-साथ अंदर से भी हिल जाता है, उसकी सोचकर बोलनेवाली मशीन में एरर आ जाता है। परिणामस्वरूप वे ऑटोमोड पर रोते, सिसकते, लप्पड़ से बचने के प्रयास में डाज देते हुए घटना का पूरा ब्योरा जस-का-तस प्रस्तुत कर देता है—

'हुआ यों था, हमारे हमउम्र कन्नू पटेल, जिनकी एक आँख गिल्ली डंडा खेलते हुए कुछ वर्ष पहले बुझ गई थी, नई-नई साइकिल चलाना सीखे थे, उसी उत्साह में वे टेढ़ की घटिया से उतर रहे थे। साइकिल पर नियंत्रण न कर पाने के कारण वे साइकिल के अगले पहिए को लेकर मेरे मित्र के दोनों पैरों के बीच में पीछे से घुस गए थे और उन्हें लेकर पेड़ से जा भिड़े।'

कहानी अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि तभी कन्नू अपने पिताजी के साथ मित्र के घर आ धमके। आते ही कन्नू के पिताजी भड़क गए, वे बोले, 'हमें जा बात की बिल्कुल चिंता नहीं है फुर्तीले फूफा, कि तुमाए लड़का ने कन्नू खों मारा, मोड़ी-मौड़ा हैं, बे लड़तई हैं, लेकिन तुमाए लड़का ने कन्नू को कनवा क्यों कहा? कछु बो जन्मजात कनवा तो है नहीं! अरे दोई आँखोंवाला था, खेल-खेल में एक फूट गई तो जा कौ जो मतलब तो नई की तुमाओ लड़का कन्नू खों कनवा कहन लगे? इससे कन्नू के तन पे नई उसके मन पे चोट घली है, अपने लड़का से कहो की बो कन्नू से माफी माँगे।'

फुर्तीले फूफा ने प्रशासनिक स्वर में लगभग लताड़ते हुए कहा, 'कॉफी? कॉफी काय माँगे? हमाओ लड़का दूध पियत है। ओखों कॉफी पिला के अपने जैसो अफीमची ना बनाओ।'

इस बात पर कन्नू के पिताजी भी भड़क गए, बोले, 'सारे बहरा कहीं का, कछु बोलो कछु सुनत है, अरे हम कॉफी नई, माफी माँगवे की कह रहे हैं।'

फुर्तीले फूफा ने अप्रत्याशित रूप से कन्नू के पिताजी की कॉलर पकड़ ली और बोले, 'बहरा कौन को कह रहो है बे! हैं?'

कन्नू के पिताजी ने भी फुर्तीले फूफा का कॉलर पकड़ लिया और उससे भी जोर से बोले, 'सारे तू बहरा तेरो बाप बहरा! अरे, हम कॉफी माँगवे की नहीं माफी माँगवे की कह रहे हैं।'

फुर्तीले फूफा भी क्रोध के चरम पर चीखने लगे—'हट्ट सारे झूठा कहीं का, तुमाओ कन्नू कनवा है। हम एक बार नई हजार बार कह हैं, कनवा, कनवा, कनवा।'

वहाँ पर एक नया बखेड़ा खड़ा हो गया था, अच्छी खासी भीड़ जमा हो गई, तभी वहाँ पर मेरे पिताजी आ गए, जिनको फुर्तीले फूफा और कन्नू के पिताजी बड़े भाई का दर्जा देते थे, उन्होंने पहले तो दोनों को कड़क आवाज में एक-दूसरे से अलग होने के लिए कहा, लेकिन जब वे नहीं माने तो दोनों को दो-दो चाँटे रसीद किए।

चाँटों की आवाज से वहाँ पर अप्रत्याशित रूप से शांति हो गई, तब उस नीरव शांति में हम सबको समझाते हुए मेरे पिताजी ने वह ब्रह्म वाक्य बोला, जो मेरे लेखन की नींव में है। पिताजी ने कहा, "कनवा से कनवा कहो तो तुरतई जे है रूठ, अरे धीरे-धीरे पूछ लो कि कैसे गई थी फूट?"

यदि किसी व्यक्ति की एक आँख है तो उसे काणा कहने की जगह आप उसे 'समदर्शी' कह सकते हैं, बिना भेदभाववाला, जो सभी को एक दृष्टि से देखता है, इससे उसकी वास्तविकता भी प्रकट हो जाएगी और उसे बुरा भी नहीं लगेगा। यदि कोई अंधा है तो उसे अंधा कहने की जगह आप 'लुप्तलोचन' कह सकते हैं। किसी को बहरा कहने की जगह आप उसे 'अल्पश्रुत' कह सकते हैं, कमसुनने वाला। किसी गूँगे को आप आत्मभाषी, स्वभाषी कह सकते हैं।

बड़े और समझदार होने के बाद पता चला कि व्यक्ति या व्यवस्था के विकृत अंग को समाज के सामने कुछ इस तरह से पेश करना, जिससे किसी व्यक्ति या व्यवस्था को बुरा भी न लगे और उसकी वास्तविकता भी समाज के सामने स्पष्ट हो जाए, इस कला को साहित्य में व्यंग्य कहा जाता है।

चूँकि मेरा वास्ता आमजनों से अधिक पड़ता है तो उन्हीं आमजनों में कुछ खास होते हैं, उन सभी का मानना है कि व्यंग्यात्मक शैली में कही गई बात मारक भी होती है और तारक भी होती है। व्यंग्य के इसी गुण के कारण कथा-कहानियों, कविताओं, उपन्यास में मौजूद व्यंग्य रूपी चेतना के पठन-पाठन लेखन के प्रति मुझमें गजब का आकर्षण बना रहा। इसी आकर्षण ने मेरी किताब 'मौन मुस्कान की मार' को जन्म दिया। जो हमारे देश के सर्वाधिक प्रतिष्ठित संस्थान 'प्रभात प्रकाशन' के माध्यम से आज आपके हाथों तक पहुँची है।

मेरी इस लेखन-यात्रा को उत्साहपूर्वक संचालित रखने में सबसे बड़ा योगदान मेरी धर्मपत्नी परम प्रिय रेणुका शहाणेजी को जाता है, जो मेरी किसी भी रचना की प्रथम श्रोता और निष्पक्ष समीक्षक होती हैं।

मेरे भाई समान मित्र प्रिय तरुण बघेल का बहुत धन्यवाद, जो समय-असमय मेरे सभी व्यंग्यों को धैर्यपूर्वक सुनते हैं।

मेरा खूब-खूब धन्यवाद डॉ. सुमन सिंह को, जो डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, वाराणसी में हिंदी विषय की असिस्टेंट प्रोफेसर हैं, मेरी रचनाओं को किताब की शक्ल देने से लेकर इसके संपादन तक का कठिन कार्य इन्होंने बहुत सरलता से सहर्ष संपन्न किया।

विनम्रता और प्रबुद्धता बहुत मुश्किल से एक साथ पाई जाती हैं, मेरे मित्र श्री रामकुमार सिंहजी जो 'दस्तक टाइम्स' के संपादक हैं, इसका जीता जागता उदाहरण हैं। उन्होंने इन दोनों गुणों को बहुत सरलता से साधा हुआ है। मैं आभारी हूँ, जो आपने नियमित रूप से मुझे दस्तक टाइम्स में लिखने का अवसर दिया, अन्यथा मैं स्वान्त:सुखाय ही लिखकर मगन रहता।

मुझसे फेसबुक पर जुड़े मेरे सभी परिचित, अपरिचित, सुपरिचित, शुभचिंतक, प्रशंसक एवं मित्रों का हृदय से धन्यवाद, जिन्होंने अपने बहुमूल्य समय में से कुछ समय मेरी रचनाओं को पढ़ने, उन पर प्रतिक्रिया देने में खर्च किया है। आप सभी की प्रतिक्रियाएँ और प्रोत्साहन मेरे परिष्कार का हेतु है।

मैं अपने परिवार में सबसे छोटा हूँ, किंतु मेरे सभी भाइयों, बहनों, भाभियों और बहनोइयों ने मुझे सदैव ही एक विशिष्ट स्थान दिया है, जिसका लाभ मैं अपनी पूरी-अधूरी रचनाओं को इन्हें अपनी शर्तों पर सुनाकर उठाता हूँ। अपने सभी परिजनों से मिलनेवाले इस अशर्त प्रेम के प्रति अनुग्रह के भाव से मैं भरा हुआ हूँ।

मेरे व्यक्तित्व निर्माण में मेरे गृहनगर गाडरवारा व सागर शहर का विशेष योगदान है। मेरी रचनाओं में आप सुधि पाठकों को यहाँ के रंग-ढंग, भाव-भाषा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देगा, मेरी मनोभूमि में गाडरवारा और सागर आज भी वर्तमान हैं।

अच्छा शिक्षक होने के लिए अच्छा विद्यार्थी होना आवश्यक होता है। पांडित्य जन्मजात नहीं स्वयंसिद्ध होता है। ऐसे ही है डॉ. श्री सुरेश आचार्य। विद्या का उद्देश्य सृजन नहीं, विसर्जन होता है, आदरणीय सुरेश भाईसाहब के व्यक्तित्व में ये सारी उक्तियाँ शास्त्रोक्त जुगाली नहीं वरन् चारित्रिक सच्चाइयाँ हैं, वे आधुनिक युग के चाणक्य हैं। डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर में हिंदी विभाग के विभागाध्यक्ष रहे हैं, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ, जो उन्होंने कृपापूर्वक मेरी इस पहली किताब की भूमिका लिखी।

मुझे अपनी पूज्य माँ श्रीमती सीतादेवीजी से विचार करने की क्षमता मिली और पूज्य पिताश्री रामनारायणजी से बात को कहने का हुनर मिला।

मेरे सर्वस्व, मेरे जीवन के आधार, मेरे पथ और मेरे पथ-प्रदर्शक मेरे आध्यात्मिक गुरु गृहस्थ संत परमपूज्य पंडित श्री देवप्रभाकरजी शास्त्री 'ददुदाजी' की अहेतुकी कृपा, पूज्य माँ से मिला हुआ धैर्य व पूज्य पिताजी से मिला हुआ साहस ही मेरी जीवन-पूँजी है, उनके श्रीचरणों में दंडवत् प्रणाम करते हुए अपनी इस प्रथम रचना 'मौन मुस्कान की मार' को आप साहित्य-रसिकों, सुधी पाठकों को सादर समर्पित करता हूँ, इस आशा के साथ कि ये रचनाएँ आपका मनोरंजन करते हुए आपके आनंद का वर्धन करेंगी।

शिवसंकल्पमस्तु...

—आशुतोष राणा

ashutosh.ramnarayan@gmail.com

अनुक्र म

लामचंद की लालबत्ती

गप्पी और पप्पी

गंधी वृक्ष

आभासी क्रांति

भक्क नारायण महाराज

अंतरात्मा का जंतर-मंतर और तंतर

बीसीपी उर्फ भग्गू पटेल

आत्माराम विज्ञानी

राम रवा लपटा महाराज

लाठी गली

यह कलियुग है

बिस्पाद गुधौलिया

चित्त और वित्त

गुंचई का गीता ज्ञान

मैं का मोह

हैप्पी बर्थ डे बापू

तीनबत्ती की सिंहासन बत्तीसी

अर्थी का अर्थ

धप्पू

सब्र का फल और कब्र का फल
मनोविज्ञान के कुछ क्रांतिकारी सूत्र
यश और राज की दीवार
'G' की शक्ति
मकर संक्रांति नहीं, कर की क्रांति
मुरलीमनोहर श्यामबिहारी उर्फ बड्डे
मौन मुस्कान की मार
शॉर्टकट/कटशॉर्ट

लामचंद की लालबत्ती

माता-पिता ने उनका नाम रामचंद्र रखा था, किंतु मैट्रिक की परीक्षा देने से ठीक पहले वे एक शपथपत्र देकर वैधानिक रूप से रामचंद्र से 'लामचंद' हो गए।

यह उस समय की बात है, जब टेन प्लस-टू का जमाना नहीं था। वह एट प्लस-थ्री का दौर था। यानी आपको अपनी उम्र से लेकर नाम तक जो भी छेड़छाड़ करनी है, आप ग्यारहवीं तक ही कर सकते थे। उसके बाद किया जाने वाला परिवर्तन बेहद पेचीदा था, तब आपको बहुत से सरकारी कर्मकांड से गुजरना पड़ता था। इस सरकारी कर्मकांड की पेचीदगी उस धार्मिक कर्मकांड से भी अधिक भीषण थी, जिसमें जबरदस्ती किसी पापात्मा को पुण्यात्मा बनाकर स्वर्ग में सीट दिलाई जाती थी। उनके रामचंद्र से लामचंद होने के पीछे किसी न्यूमरोलोजिस्ट का हाथ नहीं था और न ही यह क्रांतिकारी परिवर्तन माता-पिता के प्रति विद्रोह के चलते हुआ था। चूँकि वे बचपन से ही प्रखर बुद्धि के स्वामी थे, इसलिए भविष्य में आनेवाले संकटों को किशोरावस्था में ही ताड़ गए। वे मैट्रिक तक आते-आते जान गए थे कि 'र' शब्द जो भगवान शिव के लिए अमृत था, उनके लिए कालकूट विष साबित होगा। भगवान राम में अगाध श्रद्धा होने के बाद भी उनकी जीभ 'र' को 'ल' बोलती थी। बचपन में उनके द्वारा अपने नाम रामचंद्र की जगह लामचंद बोलना बड़ों के लिए आनंद का कारण था, वे उसे छोटे बच्चे का मासूम प्रयास समझकर बहुत प्यार से उनकी पप्पियाँ लेते, किंतु पाँचवीं तक आते-आते पप्पी डाँट में बदलने लगी, आठवीं तक चिंता का विषय हो गई और आठवीं के बाद पप्पी ने प्रतारणा का रूप धारण कर लिया और इसी प्रतारणा ने रामचंद्र की सोई हुई प्रतिभा को झिंझोड़कर जगा दिया। वे समझ गए कि मैं कभी भी 'र' को 'र' नहीं कह पाऊँगा, सो बेहतर है कि अपने नाम को रामचंद्र से लामचंद कर दिया जा ए।

चूँकि लामचंद स्कूल के समय से ही राजनीति के प्रति आकर्षित थे, इसलिए स्कूल में होनेवाले चुनाव में वे प्रतिवर्ष खड़े हो जाते (उस समय स्कूलों में चुनावों की परंपरा थी)। वे क्लास मॉनिटर, सहसचिव, सचिव, उपाध्यक्ष से लेकर अध्यक्ष पद तक का चुनाव मात्र इसलिए हार गए, क्योंकि उनका विरोधी पैनल हर चुनाव में इस बात का प्रचार जोर-शोर से करता कि जो लड़का अपना नाम भी सही-सही नहीं बोल सकता, अपने देश का नाम सही नहीं बोलता, जो भारत को 'भालत' कहता है, राष्ट्रपति को लाष्टपति कहता है, राष्ट्रपिता को लाष्टपिता बोलता है, पंडित नेहरू को पंडित नेहलू, राजघाट को लाजघाट, पार्लियामेंट को पालियामेंट, यहाँ तक कि अपने देश की मुद्रा रुपया को लुपया, राजनीति को लाजनीति, रेलगाड़ी को लेलगाड़ी बोलता है, वह स्कूल का सही नेतृत्व कैसे करेगा?

अब पहाड़े में से 'र' को हटाना, अपने देश, अपने महापुरुषों, राष्ट्र के संवैधानिक पदों व अपनी जन्मभूमि गाडरवारा में से एक नहीं दो-दो 'र' को हटाना, उनके सामर्थ्य के बाहर था। किंतु अपने नाम रामचंद्र पर तो उनका पूरा अधिकार था, इसलिए उन्होंने सोचा कि अपना नाम भी वर्णमाला के उसी अक्षर से शुरू करना चाहिए, जिसके उच्चारण में जीभ की सहज रुचि व सिद्धता है, कम-से-कम मैं अपना नाम तो सही बोल पाऊँगा और उसी दिन वे रामचंद्र से लामचंद हो गए।